मुनिश्री श्रीमल्लजी

आर्हत आराधना का मूलाधार : सम्यग्दर्शन

सम्पूर्ण मानवसभ्यता विकासक्रम का सुपरिणाम है. मानवजाति के आज तक के रूप पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो क्रमिक विकास की अजस्र प्रवाहित होनेवाली स्रोतस्विनी का दर्शन-दिग्दर्शन किया जा सकता है. विकास की गतिशीलता स्वयं मानव पर ही निर्भर रही है. उसकी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओंके साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध हैं. समस्त धर्म, दर्शन और संस्कृति इसी शाश्वत प्रक्रिया के अंग हैं. केवल धर्म, दर्शन और संस्कृति ही क्यों, समस्त मानव ज्ञान-विज्ञान ही इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत हैं.

प्रत्येक युग में इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न परिलक्षित होगा. स्थिति, काल और वातावरण के अनुसार हर युग इनका सृजन करता रहा है. मिट्टी मिट्टी है पर कलाकार अपने मनोभावों के अनुसार उसे विभिन्न रूप देता रहता है. सृजन की यह प्रक्रिया सदैव गतिशील रही है. कभी मंद तो कभी तीव्र. यदि यों कहा जाय तो अधिक स्पष्ट होगा कि मनुष्य ने अपने निर्माण के लिए समस्त ज्ञान-विज्ञान का सृजन किया है. धर्म, दर्शन और संस्कृति भी मानव के मस्तिष्क की सहज उपज है और इसका आविष्कार भी उसने अपने लिए ही किया है.

भारतीय धर्म-परम्परा में जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का केन्द्रबिंदु मनुष्य है. धर्म दर्शन तथा संस्कृति के क्षेत्र में सर्वत्र मनुष्य ही उपास्य रहा है. जिस धर्मक्रिया का फल मानवीय जीवन के लिए उपयोगी न हो, वह न भारतीय संस्कृति के लिए अनुकूल है और न आधुनिक जीवनपद्धति के लिए उपादेय. विज्ञान, साहित्य, कला, राजनीति आदि की उपयोगिता की एक मात्र कसौटी मानव का प्रत्यक्ष परोक्ष लाभ है. जीवन के इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जहाँ एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढ़ी है, वहाँ दूसरी ओर स्वर्ग की कल्पनाओं में खोये रहने वाले लोगों को धरती का कुशल-मंगल पूछने का पाठ पढ़ना पड़ा है.

आज के इस जाने-पहचाने विश्व के समग्र विचारों का मध्य बिन्दु मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है. विश्व-क्षितिज का प्रत्येक ग्रह-उपग्रह मानव रूपी केन्द्र के चारों ओर मंडराता है. विश्व की गति-विधि का मूल आधार है मनुष्य.

जो मनुष्य इतना महनीय और विश्वपरिधि का केन्द्र-बिन्दु है, वह यथार्थ में है क्या ? हम इसे मिट्टी, पानी, आग, हवा आदि का संयोग मात्र मानें ? क्या यह जल में से उत्पन्न होने वाला और फिर जल ही में विलीन हो जाने वाला क्षण-भंगुर एक बुद्बुद मात्र है ? नहीं. मनुष्य मात्र वही नहीं है, जो देखा जाता है. उसमें एक ऐसा अदृष्ट तत्त्व भी विद्यमान है, जो होकर भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसी तत्त्व का अन्वेषण करने के लिए भारत ने कई ऋषि महर्षि एवं आचार्य उत्पन्न किये. इसी के साक्षात्कार के लिए उन्होंने अपने जीवन तक को उत्सर्ग कर दिया. भारत में जो भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर तथा वाद दृष्टिगोचर होते हैं वे इसी अदृष्ट के साक्षात्कार का निर्घोष कर रहे हैं.

आत्मवादी दर्शनों की विचारधारा के अनुसार मनुष्य, मर्त्य और अमृत का सुंदर संयोग है. इसमें कुछ ऐसा है, जो बार-बार बनता है, बिगड़ता है, सड़ता है और मिटता है. परन्तु साथ ही उसमें कुछ ऐसा भी सन्निहित है, जो न उत्पन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, न विकृत होता है और न नष्ट ही होता है. वह चिरंतन सुन्दर है. देह मर्त्य है और आत्मा अमृत. मनुष्य का देहमूलक मर्त्य अंश ही उसे पार्थिव जगत् से सम्बद्ध रखता है. भारतीय दर्शन का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि "जब तक मर्त्य और अमृत अंशों को ठीक से नहीं समझा जायगा एवं उनका सम्यक् विकास नहीं किया जायगा तब तक मनुष्य अपूर्ण ही रहेगा."

यदि किंचित् सम्यक् दृष्टि से सोचा जाय तो कहा जा सकता है कि आदर्श और यथार्थ के कगारों में जीवन-सरिता प्रवहमान होनी चाहिए. इनका सम्यक् समन्वय ही जीवन को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से अभिहित कर सकता है. यथार्थ और आदर्श, मर्त्य और अमृत का संयोग ही मानव जीवनको उन समस्त मानवीय मूल्यों से अवगत करा सकता है जिसने मनुष्य को देवतातुल्य बनाया है।

आज जिनकी सर्वाधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है वे यही मानवीय मूल्य हैं जो भौतिकता के अतिरेक में प्रायः नष्ट होते जा रहे हैं. स्वार्थ, दम्भ, मोह एवं तृष्णा ने आज इन्हें अपरूप बना डाला है, लिप्सा और वासना के आधिक्य ने विरूप कर दिया है.

भोगवादी मनुष्य केवल अपने भौतिक स्वरूप को ही जानता-पहचानता है. शरीर का सुख उसका सुख है. शरीर का दुःख उसका दुःख है. शरीर के ह्रास-विकास में ही उसके ह्रास-विकास की सीमा है. वह मानता है कि शरीर सुन्दर है तो वह सुन्दर है और यदि शरीर विकृत है तो वह भी विकृत है. भोगवादी मात्र भोग के जाल में आबद्ध रहता है. वह सोचता है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि सब मेरे हैं और मैं उनका हूं. इन भूतों के संयोग से ही मेरा अस्तित्व है और इनका बिखराव ही मेरा मरण है. भोगवादी अमृत अंश को मानने से इन्कार करता है और मर्त्य अंश को मानने के लिए इकरार करता है. इसीलिए भोग-विलास, दैहिक सुख, अर्थ, काम इत्यादि उसके साध्य बन जाते हैं. इन सबकी प्राप्ति और इनके उपभोग में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है.

पाश्चात्य राष्ट्रों में इस दर्शन अथवा दृष्टि का चरम विकास हुआ है. शायद सदियों की घुटन, कुंठा, उत्पीड़न, शोषण एवं रक्तलोलुपता की यह प्रतिक्रिया है. पाश्चात्य साहित्य एवं इतिहास के अनुशीलन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है. यह सब वहां इसलिए संभव हुआ कि वहां मानव की वृत्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया.

हमारे यहां नीति, धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के आलोक में उनको संस्कारित करने का प्रयत्न किया गया है. इस प्रकार के प्रयत्न वहां स्वल्प दृष्टिगत होते हैं. यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार की भूमिका की उसके लिए अपेक्षा होती है वह शायद वहां नहीं बन पाई. हमारे यहां तो हमारा आद्य इतिहास भी उसकी एक भूमिका है. हमारे धर्माचार्य भी सदैव इसके लिए सजग रहे हैं.

अध्यात्मवादी मनुष्य शरीर की सत्ता से इन्कार नहीं करता. उसकी विवेक-दृष्टि शरीर के अन्तःस्थित दिव्य अंश का भी साक्षात्कार करती रहती है. इसीलिए शरीर में स्थित होने पर भी वह आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है.[1]

यह एक चेतन तत्त्व है. यही चेतना प्राणीमात्र को संचालित करती है. मानव के उद्भव में इसी तत्त्व का सर्वाधिक योग है. मानवीय उत्क्रान्ति के मूल में भी यह समाहित है. यही चेतना मानवी वृत्तियों को दुष्प्रवृत्तियों की ओर से पराङ्मुख कर शिवत्व की ओर उन्मुख करती है. सामाजिक हित व श्रेय-मार्ग की ओर प्रेरित करती है. स्व के अतिरिक्त अन्य का भी अस्तित्व है एवं उसका सम्यक् ज्ञान भी इसी के आलोक का परिणाम है. व्यक्ति समाज का अंग है, समाज विराट् है. अतः यह व्यक्तित्व, यह सत्त्व समाज में घुल-मिल कर एक रस हो जाना चाहिए. अहम् से वयम् की यह प्रक्रिया इसका प्राण है.

आत्मवादी के जीवन में भोग-विलास आदि का अस्तित्व भी रहता है, परन्तु इनकी प्राप्ति एवं उपभोग ही उसके जीवन

१. आया वि काया, अन्ने वि काया. —भगवती सूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का साध्य नहीं बनता. भोग से योग की ओर अग्रसर होने में ही उसकी सफलता है. वह सदा अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का विश्वास लेकर चलता है.[१] वह शरीर को मारता नहीं, साधता है. शरीर के बिना केवल शरीरी धर्म-साधना नहीं कर सकता. शरीर का सम्यक् विकास करते हुए अन्तर्मुख होना ही आत्मवाद को अभीष्ट है.

आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य नहीं है. उस पर श्रद्धा कैसे की जाय, यही एक मुख्य प्रश्न है. इसे बौद्धिक व्यायाम के जरिये हम प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय नहीं बना सकते. आत्मा की अनुभूति संवेदना से की जा सकती है. 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' ऐसी जो अनुभूति है, वह आत्म-प्रत्यक्ष है. यह अनुभूति सिर्फ शरीर को नहीं हो सकती. शरीर पंच भूतों से बना हुआ है. इन पंच भूतों का जो उपयोग करता है, वही आत्मा है. कोई मनुष्य अंधा हो जाय तो क्या उसे आंखों से देख न पाने के कारण पदार्थों का अनुभव नहीं होता ? होता है. यह अनुभव करने वाला तत्त्व ही आत्मा की संज्ञा से अभिहित होता है. इन्द्रियों से भिन्न यह आत्मानुभव ही संवेदना का प्रधान अंग है.

रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि आत्मा में नहीं हैं. और इन्द्रियां रूप, रस, गंध, स्पर्शादि को ही ग्रहण करती हैं. इसीलिए आत्मा इन्द्रियों के प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नहीं हो सकती तथापि अन्तर-आत्मा में स्पष्ट रूप से अनुभूयमान जो संवेदना है, उसके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को समझा जा सकता है.

आत्मा सत् स्वरूप है. उसका कभी विनाश नहीं होता. इसी प्रकार आत्मा चिद्रूप भी है. चिद्रूप का अर्थ ज्ञानमय होता है. आत्मा अपने आपको जानता है और संसार में जितने पदार्थ हैं, उन्हें भी जानने की क्षमता रखता है. यह क्षमता जड़ पदार्थों में नहीं होती.

श्रमण संस्कृति में आत्मवादी को सम्यक्-दृष्टि कहा गया है. सत्य-दृष्टि, सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-दर्शनी और सम्यक्त्वी, ये पर्यायवाची हैं. इन सबको एक ही शब्द में कहना हो तो 'विवेक-दृष्टि' कहा जा सकता है. आत्मवादी विवेक-दृष्टा होता है. वह सत्य की उपासना, साधना और आराधना के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है.

सत्य ही लोक में सारभूत है.[२] जो मनुष्य सत्य का पालन करता है, वह सुखी होता है. सत्याचरण करने से जीवन में आत्मविश्वास, आत्म-संतोष तथा आत्म-शांति बढ़ती है. सत्यशोधक वस्तुस्थिति को जानने का प्रयत्न करता है. जानना ज्ञान का लक्षण है. ज्ञान मानवता का सार है. ज्ञान का भी सार सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची आत्मश्रद्धा है.[३] सत्य शोधक के श्रद्धामय जीवन व्यापार में से स्म्यक्त्व फलित होता है. सम्यक्त्वी के लिए सत्य सत्य है. वह सत्य अपने शास्त्रों में है तब भी उपादेय है और यदि वह पर शास्त्रों में है, तब भी उपादेय है. सम्यक्त्वी के लिए सत्य की साधना ही भगवान् की आराधना है. सत्य ही भगवान् है[४] सत्याचरण में स्वत्त्व परत्व की कल्पना तथा जल्पना सबसे बड़ा मिथ्यात्व है. सत्य दृष्टि प्रतिकूलता में अनुकूलता का सृजन करती है. सत्य की आराधना करने वाले सम्यक्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत बन जाते हैं.[५] सत्यसाधक राग-द्वेषात्मक संसार से पार हो जाता है.[६]

सत्य को पहचानने एवं पाने के लिए अनेकांतदृष्टि की नितान्त आवश्यकता है. पूर्वाग्रही व्यक्ति सत्य के यथार्थ रूप को पहचानने में असफल रहता है. उसका एकांत दृष्टिकोण सत्य के समस्त पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित नहीं होने देता है और इस प्रकार वह समग्र सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता. अपनी स्थूल दृष्टि से भले ही कोई व्यक्ति सत्य के अंश को

---

१. आरोह तमसो ज्योतिः —वेद
२. सच्चं लोगम्मिसारभूयं. —प्रश्नव्याकरण सूत्र
३. नाणं नरस्स सारं सारो वि नाणस्स होइ सम्मत्तं.
४. सच्चं खु भगवं. —प्रश्नव्याकरणसूत्र
५. सम्मदिट्ठिस्स सुअं सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुअं सुअ-अन्नाणं. —नंदीसुत्तं.
६. सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ. —आचारांग.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझने का दावा कर सकता है किन्तु वह व्यापक एवं अनेकांत दृष्टि के अभाव में उसके प्रति न्याय करने में समर्थ नहीं हो सकेगा.

वर्तमान में वादों एवं मताग्रहों का जो भीषण कोलाहल एवं संघर्ष दिखाई पड़ रहा है उसका भी मूल कारण सत्य को सम्पूर्ण रूप में जानने का अभाव है. "मेरी स्थापना ही सत्य है" यह अहम् भावना ही वस्तुतः इन समस्त विग्रहों का मूल कारण है. अतः सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार आवश्यक है और वह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने एकान्त दृष्टिकोण को छोड़कर अनेकांत दृष्टि का वरण करेगा.

वर्तमान में सत्य को आवृत करने की प्रथा-सी चल पड़ी है. अनावृत सत्य सामाजिक अहित का कारण हो सकता है, इस तर्क के अवलम्बन से आवृत सत्य को अंगीकार करने का प्रायः उपदेश दिया जाता है. किन्तु इस यथार्थोन्मुख युग में यह प्रवंचना स्थायी नहीं हो सकती है. जो सत्य है, स्पष्ट है, उसको आवृत रूप में जानने, पहचानने में क्या प्रयोजन है ? अनावृत सत्य की आराधना ही सही सत्य-साधना है, वही प्रयोजनीय है.

श्रमणसंस्कृति सम्यक्त्वमूलक है. सम्यक्त्व है तो ही श्रावक श्रावक है और श्रमण श्रमण है. सम्यक्त्व रहित श्रावक और श्रमण का आत्मसाधना की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है. किसी भी साधक ने जब कभी भी आत्मा के शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप को पाया है तो वह सम्यक्त्वमूलक सत्याचरण के द्वारा ही. श्रमण संस्कृति में जीव, जीवन और जगत् की प्रत्येक प्रक्रिया एवं प्रयोग को सम्यक्त्व की कसौटी पर ही कसकर परखा जाता है. जैन आगमों में यह कहा गया है कि जिसने जीवन में सम्यक्त्व नहीं पाया, उसने ज्ञान और चारित्र भी नहीं पाया. सम्यक्त्वहीन का ज्ञान अज्ञान है.[1] सम्यक्त्वहीन का चारित्र भी कुचारित्र है.[2] सम्यक्त्व धर्म के प्रभाव से नीच-से-नीच मनुष्य भी देव हो जाता है और उसके अभाव में उच्च-से-उच्च भी अधम हो जाता है.[3]

आज समता और साम्य की स्थापना के नारों का गगनभेदी उद्घोष प्रायः सुनाई पड़ता है. मनुष्य के स्वार्थ, वासना लिप्सा ने वैषम्य का साम्राज्य स्थापित किया है और मनुष्य-मनुष्य में अन्तर उत्पन्न कर दिया है उसके बीच एक गहरी खाई का निर्माण कर दिया है, भेद की दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर दी है. इसी वैषम्य का निराकरण करने के लिए प्रायः समता अथवा साम्य का आयोजन किया जाता है.

यह युग यांत्रिकयुग, वैज्ञानिकयुग एवं आर्थिकयुग के नाम से सम्बोधित किया जाता है. मानव के विधि-विधान भी इन्हीं के द्वारा परिचालित होते हैं. जिन भावनाओं एवं मनोविकारों की प्रेरणा से मनुष्य ने इतनी उत्क्रान्ति की है, उनकी इन विधि-विधानों एवं रचनाओं में प्रायः उपेक्षा की गई है.] विज्ञान एवं अर्थशास्त्र के नियम एक निश्चित फार्मूले पर नियोजित हो सकते हैं किंतु भावप्रवण मानव को इन बंधनों में कैसे घेरा जा सकता है ? इसी भ्रममूलक दृष्टि ने इन वर्गसंघर्षों का नियोजन किया है. आज जिस साम्य व समता की बात बार-बार दोहराई जाती है उसमें भी ये कमजोरियां समाहित हैं और फिर इसके पीछे मानवहित की विशुद्ध भावना नहीं अपितु राजनैतिक षड्यंत्रों एवं छल-छन्दों की धूल उड़ रही है. अतः सम्यक्त्व के विशुद्ध रूप का वरण ही इन सबका समाधान कर सकता है और अशान्ति में भटकने वाले विश्व को शान्ति प्रदान कर सकता है.

श्रमण-साहित्य के अतिरिक्त वैदिक-साहित्य में भी सम्यग्दर्शन की महिमा कम नहीं है. वहाँ ऋत, सत्य, समत्व आदि शब्दों से इसी की ओर इंगित किया गया है. सम्यक्दर्शन शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, परन्तु बहुत कम. श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन ! जीवन को शान्त और पवित्र बनाने के लिए समत्व प्राप्त करो. समत्व सब से बड़ा योग है.[4]

---

१. नादंसणिस्स नाणं. –उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ३.
२. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं–उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २९.
३. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम् , देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्. —आचार्यस मंतभद्र.
४. समत्वं योग उच्यते. —गीता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनु-संहिता में भी इसे परम तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किया है. महर्षि मनु कहते हैं कि सम्यक्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति कर्मबद्ध नहीं होता. संसार में परिभ्रमण वही करता है जो सम्यग्दर्शनविहीन होता है.[1] सम्यक्त्वी का जीवन-व्यापार गुणप्रधान होता है. आत्मा और जगत् के हित की दृष्टि से तर्कसंगत विचार कर जो क्रिया की जाय वही सम्यक्त्वी का आचार है. सम्यक्त्वी का आचार पापप्रधान नहीं होता है.[2]

"मैं मनुष्य हूँ, जो कुछ मानवीय है, उसे मैं अपने से पृथक् नहीं कर सकता" सम्यक्त्वी में ऐसी अभेददृष्टि होती है. वह जल में रहकर भी कमलवत् निर्लिप्त रहता है. स्वादु भोजन, मधुर पेय, सुन्दर वसन, अच्छे अलंकार और भव्य भवन भी उसे पथभ्रष्ट नहीं कर सकते. सभी को अपने समान मानना, और समतामय जीवन का विकास करना ही सम्यक्त्वी की पहिचान है.

सम्यक्त्वी को पहचानने के पाँच लक्षण हैं—सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य.

समता जीवनव्यवहार का एक मुख्य गुण है. जो पदार्थ, जो प्रवृत्तियाँ और दृष्टि मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है, वह असमता की द्योतक है. सम्यक्त्वी भाषा, प्रान्त, जाति, धर्म, अर्थ, शास्त्र, ईश्वर, पंथ आदि किसी भी क्षेत्र में आवेश, आग्रह या पक्षपात के वशीभूत होकर असमता को मान्य नहीं कर सकता. जीवननिर्वाह के लिए जो आवश्यक पदार्थ हैं, वे सारे समाज के लिए हैं. उन पर एकाधिपत्य स्थापित कर वैषम्य पैदा करना सम्यक्त्वी का लक्षण नहीं है. जो समभाव बाह्य जीवन को स्पष्ट करता है, वही अन्तर्जीवन में 'समभाव' का रूप धारण कर लेता है. समभाव का अर्थ है उदय में आये हुए क्रोधादि कषायों को असफल करना. क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि विकार किस में नहीं होते ? इनके परित्याग की बात श्रवण करने में सभी को अच्छी लगती है किन्तु आचरण में लाना अत्यन्त कठिन होता है. सम्यक्त्वी साधक उपशम से क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को, संतोष से लोभ को,[3] समभाव से ईर्ष्या को, और प्रेम से घृणा को जीतने का अभ्यास करता है. क्योंकि क्रोध प्रेम का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ समस्त सद्गुणों का घात करता है.[4] क्रोधादि विकार जीवन भर स्थिर रह जाएं अथवा वर्षभर से भी अधिक रह जाएं तो वे आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात कर सकते हैं. अतः इन पर विजय पाना ही सम्यक्त्वी की प्राथमिक साधना है. इसी साधना को प्रशम भी कहते हैं.

यह साधना व्यक्ति के लिए शीघ्र ग्राह्य हो सकती है किन्तु समष्टि के लिए कठिन सी प्रतीत होती है. हालांकि व्यक्तियों से ही समष्टि का निर्माण होता है, किन्तु समष्टि में विषमता होती है अतः यह कठिनाई स्पष्ट है.

व्यक्तिमूलक या इकाईपरक साधनाओं का समाजीकरण आज आवश्यक होगया है. जब तक इनका समाजीकरण नहीं होगा तब तक समता का स्वराज्य-स्थापन भी एक कल्पना या स्वप्नवत् रहेगा. क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा के जो मूल कारण हैं उनका उच्छेदन आवश्यक है. इनके उच्छेद पर ही समता के भव्य सामाजिक भवन का निर्माण संभव है.

इसके उच्छेद का क्या उपाय है ? इस संबन्ध में यह बताना अपेक्षित है कि वैयक्तिकता का तिरोभाव सामूहिकता में करना होगा. सामाजिक हित को सर्वोपरि महत्त्व देकर व्यक्ति को स्वार्थ, मोह, तृष्णा आदि का विसर्जन करना होगा.

---

१. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, कर्मभिर्न निबध्यते,
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते. —मनुसंहिता.

२. सम्मत्तदंसी न करेइ पावं.

३. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे,
मायामज्जवभावेण, लोहो संतोसओ जिणे. —दशवैकालिक

४. कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वपणासणो. —दशवैकालिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तभी संग्रहवृत्ति नष्ट होगी. एक उदाहरण से इसे समुचित रूप में समझा जा सकता है—

शरीर के विभिन्न अंगों में यदि एकात्मता न हो तो शरीर निर्जीव हो जायगा. माना कि चोट लगने के कारण हाथ कार्य करने में असमर्थ हैं और पैर चलने में अशक्त ! तो उन पर क्रोध कर उन्हें काटा नहीं जा सकता अपितु उन की परिचर्या कर पुनः उन्हें कार्य योग्य बनाना पड़ता है. इसी प्रकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति शरीर के विभिन्न अवयव के सदृश है. उसके व्यसनों को घृणा से नहीं वरन् स्नेह एवं सहानुभूति से अवसन्न करना है. इस के लिए प्रशम की साधना अति उपयोगी है.

प्रशम की सिद्धि में 'संवेग' सहायक है. रागद्वेषात्मक संसार की ओर से हटाकर इन्द्रियों की गति को वीतराग भाव की साधना की तरफ मोड़ना ही संवेग है. वेग का अर्थ है गति. यदि वह गति वासनापोषण की ओर है तो वह कुवेग है. और यदि वह गति वासनाक्षय की ओर है तो संवेग है. सम्यग्दृष्टि संवेग का आराधक होता है. वह इस तथ्य से भलीभांति परिचित होता है कि इन्द्रियों के द्वारा प्रवाहित जो वासना का वेग है, वह वर्षाकालीन नदी की भांति स्व-पर-संहारक है. शरत्कालीन नदी दो तटों के बीच बहती हुई जैसे सृजन और पोषण में योग देती है, वैसे ही त्याग और भोग रूपी तटों के बीच प्रवाहित जीवन संवेग साधना के लिए उपयुक्त है. त्याग और भोग के बीच में वही साधक विवेकपूर्वक खड़ा रह सकता है जिस की आत्मा पर प्रबल मोह का साम्राज्य न हो. मोह की प्रबलता ही संवेग गुण की घातक है. संवेगसाधना में सजग रहने से ही प्रबल मोह को हटाकर प्रशम गुण का विकास किया जा सकता है.

संवेग की अंतिम परिणति 'निर्वेद' में होती है. मोहोदय को 'वेद' कहते हैं. उसके तीन रूप हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद. पुरुष के साथ रति-सुख की कामना स्त्रीवेद है. स्त्री के साथ रतिसुख की कामना पुरुषवेद है. उभय के साथ की कामना नपुंसकवेद है. इस प्रकार कामवासना का क्षय होना ही 'निर्वेद' है. सम्यक्त्वी का जीवन भोगलक्षी नहीं होता. वह न इह लोक के भोग चाहता है और न स्वर्ग आदि के ही. प्रशम और संवेग की साधना करते-करते वेदोदय की प्रवृत्ति उसी प्रकार क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार ज्ञानाभ्यास में रत विद्यार्थी का मन बचपन में खेले हुए गंदे खेलों से उपरत हो जाता है.

सम्यक्त्वी कोमलहृदय होता है. दूसरे को पीड़ा और कष्ट में देखकर वह द्रवित हो उठता है. क्योंकि वह प्राणीमात्रके साथ आत्मीयता की अनुभूति करता है. आत्मीयता के कारण दूसरों का सुख दुःख भी अपना हो जाता है. इसी संवेदनशीलता तथा सहानुभूतिने मनुष्य के हृदयमें दया और दान भावना की सृष्टि की है. मानव को पशु और दानव बननेसे बचाने में इसी का सर्वाधिक योग है. किसीको पीड़ित अवस्था में देखकर हृदय में करुणा का उत्स प्रवाहित होना स्वाभाविक है. आत्मा का यही एक ऐसा सहज गुण है—जिसने पृथ्वी पर बार-बार प्रलय होने से रोका है. इसका विस्तार यदि समुचित रूप से किया जाय तो आज दुनिया को परेशान करने वाला शीत युद्ध भी उपशान्त हो सकता है. इसका स्वाभाविक विकास इन समस्त गत्यवरोधों को समाहित कर शान्ति और सौरम्य का निर्झर प्रवाहित कर सकता है. दूसरों के सुख दुःख को आत्मीय भाव से ग्रहण कर उनके कष्टों को मिटाने का प्रयास ही अनुकम्पा है. अनुकम्पा सामाजिक जीवन एवं सहजीवन का स्नेहसूत्र है. अनुकम्पा के कारण ही मनुष्य अपनी तथा अपने परिवार की तरह ही, अपने अधीनस्थ व्यक्तियों की योग्य और उचित आवश्यकताओं की पूर्ति सम्यक् रूप से करता है. दूसरों की आवश्यकताओं का ध्यान न रखकर अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते रहने से अनुकम्पा का घात होता है. सम्यक्त्व-आराधक अपनी आजीविका का अर्जन करने के लिए जो साधन अपनाता है, उसमें किसी प्रकार की अप्रामाणिकता न आ जाय, इसके लिए सतत जागरूक रहता है.

सम्यक्त्व गुण के विस्तार के लिए आस्तिकता आवश्यक होती है. मनुष्य ज्यों-ज्यों सद्गुणों को जीवन में अपनाता है त्यों-त्यों आस्तिक्य गुण का विकास होता है. आस्तिकता श्रद्धा को बलवती बनाती है. श्रद्धा कभी मनुष्य को विपथगामी नहीं होने देती. श्रद्धा और अंधश्रद्धा में अन्तर है. अंधश्रद्धालु दूसरों के प्रति अशिष्ट व्यवहार कर सकता है, किन्तु श्रद्धालु ऐसा नहीं कर सकता. उसमें करुणा, मुदिता, मैत्री और, तटस्थता विद्यमान रहती है. आत्मा और उसके विकास के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्त पथ पर दृढ़ विश्वास का होना ही आस्तिकता की व्यावहारिक भूमिका है. आस्तिकता, आस्था और श्रद्धा सभी एक ही अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द हैं. विश्वास भी इन्हीं के अन्तर्गत आता है. बहुत से व्यक्ति आस्तिकता, का सही अर्थ न समझने के कारण अपने आप को नास्तिक कहते हैं. अस्ति का अर्थ है स्थिति या अस्तित्व को स्वीकार करना. इस अभेदमूलक दृष्टि से सभी आस्तिकता के अन्तर्गत आ जाते हैं. नास्तिकता जैसी कोई चीज फिर अस्तित्व में नहीं रहती. पर आस्तिकता को किसी अर्थ विशेष में रूढ़ कर देने के कारण ये सभी विकृतियां उत्पन्न हो गई हैं. आस्था के अभाव में व्यक्ति का विकास निश्चित रूप से अवरुद्ध हो जायेगा. जब लक्ष्य और उद्देश्य के प्रति ही व्यक्ति की आस्था नहीं रहेगी तब दृढ़ता और संकल्प भी उसे सिद्धि के सोपान तक नहीं पहुँचा सकते. साधना के पांव लड़-खड़ा उठेंगे और विकास की गति अवरुद्ध हो जाएगी. अतः आस्तिकता, आस्था अथवा श्रद्धा की सहज स्मित-रेखा में साधना और विकास को ग्रथित करना होगा. आस्था के इस सूत्र में वलयित होने पर सम्यक्त्व की भूमिका प्रशस्त और अबाधित हो जायेगी.

इस प्रकार सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य, ये पांच लक्षण सम्यक्त्वी के हैं. इनका स्वरूप सम्यक्त्वी के जीवन में परिलक्षित होना ही चाहिये.

सम्यक्त्वी साधक सम्यक्त्व की रक्षा के लिए सतत सावधान रहता है. जागृति जीवन का लक्षण है. अजागृति मरण का प्रतीक है. जागृत मनुष्य ही विकृतियों से अपनी रक्षा कर सकता है. असावधानता की अवस्था में जो शिथिलता या विकृति आती है उसे अतिचार कहते हैं. सम्यक्त्व भी एक व्रत है. उसे शुद्ध व निर्मल रखने के लिए पांच अतिचारों से बचना चाहिये. वे अतिचार ये हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाखण्डप्रशंसा और पर-पाखण्डसंस्तव.

सम्यक्त्वप्राप्ति के साधन, एवं साधना में संशय करना शंका है. शंका-शील व्यक्ति किसीभी विषयका विशेषज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि मूल तत्त्वों पर अविश्वास रखने के कारण वह पुरुषार्थ की साधना करने में असमर्थ रहता है. 'संशयात्मा विनश्यति'[1] इस उक्ति के अनुसार संशयी अपनी शक्ति का नाश करता है और स्वयं का भी नाश करता है. सम्यक्त्वी साधक शंकाशील नहीं रहता. वह सदसद्-विवेकिनी बुद्धि के द्वारा तत्त्वों का यथार्थ समाधान प्राप्त करता है[2] जो अदृष्ट तत्त्व बुद्धि की पकड़ में नहीं आते, उन्हें आप्तोपदिष्ट मानकर अपनी शंकाओं का निरसन कर लेता है, आप्तपुरुष यथार्थ ज्ञाता एवं वक्ता होते हैं. क्षीणदोष होने के कारण उनकी वाणी में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं होती. सम्यक्त्वी की यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"[3] ज्ञानप्राप्ति एवं तत्त्वनिर्णय के लिए जो शंका की जाती है, वह अतिचार की कोटि में नहीं आती. "न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति."

जो सिद्धान्त, साधना तथा क्रियाकाण्ड सम्यक्त्व के परिपोषक न हों वे सभी परधर्म हैं, पर-धर्म की चाह करने को 'कांक्षा' कहते हैं. गीता में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया गया है. धर्मके दो रूप हैं, स्वधर्म और परधर्म. आत्मगुणों की अभिव्यंजक एवं स्वस्वरूप-रमण में स्थिर करने वाली प्रक्रिया स्वधर्म है. परधर्म की प्रक्रिया इससे प्रतिकूल है. स्व-पर-धर्मात्मक परस्पर विरोधी साधनों में मनोयोग बिखर जाने से कांक्षाशील साधक सम्यक्त्व को न तो सुरक्षित रख सकता है और न पुष्ट ही कर सकता है.

आराधना के फल के प्रति संदेह करना 'विचिकित्सा' है. मेरी साधना, जप, तप, एवं पुरुषार्थ का फल मिलेगा या नहीं, ऐसा संदेह विचिकित्सा का परिणाम है. इससे पुरुषार्थ के प्रति अनास्था पैदा होती है.

तन्मयता के द्वारा ही साधक अपनी मनःस्थिति को केन्द्रित कर सकता है. लक्ष्य के प्रति वह तन्मयता ही सफलता

---

१. भगवद्गीता.
२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्. —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १-२
३. आचारांग प्र० श्रु०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का सुलक्षण है. लक्ष्य के प्रति क्षण मात्र का प्रमाद स्खलना का कारण होगा.[1] लक्ष्यभ्रष्ट कभी अपने सदुद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता. अतएव लक्ष्य के प्रति तन्मयता आवश्यक है. किसान बादलों की तब तक प्रतीक्षा करता रहता है, जब तक कि वे बरस न जाएं. वे न भी बरसें, तब भी वह अपने कृषि-कर्म से पराङ्मुख नहीं होता. उसकी सतत चलने वाली पुरुषार्थमयी प्रवृत्तियों से सम्यक्त्वी साधकों को शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी असफलताओं पर विजय प्राप्त करते हुए विचिकित्सा से बचना चाहिए. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'[2] इस सिद्धान्त को जीवन में व्यवहृत करने से विचिकित्सा नहीं पनप सकती.

सम्यक्त्वी की साधना भोगप्रधान नहीं होती, इन्द्रिय और विषयों के संयोग से प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने से 'पर' कहलाते हैं. इन सुखों की आकांक्षा से किये जाने वाले व्रत' पर-पाखण्ड' हैं. आचार्य हरिभद्र ने पाखण्ड शब्द का अर्थ व्रत किया है.[3] ऐसे व्रत स्वीकार करने वाले 'पर-पाखण्डी' कहलाते हैं. 'परपाखण्डी' धर्मविहीन होते हैं. वे इन्द्रिय-सुखों को ही महत्त्व देते हैं और वहीं तक केन्द्रित रहते हैं. सम्यक्त्वी इन से आगे बढ़ता है. वह आत्मदर्शन चाहता है. इस प्रकार दोनों का साध्य भिन्न होने के कारण सम्यक्त्वी न तो परपाखण्ड रूप व्रतों को स्वीकार करता है और न पर-पाखण्डी की प्रशंसा या परिचय ही करता है.

मनकी वृत्तियां चंचल होने के कारण पतन की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो जाती हैं. ऊर्ध्व की ओर उन्मुख करने में आयास करना पड़ता है. किन्तु ऐहिक प्रलोभन ऊर्ध्व की ओर गति नहीं होने देते. यहां ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है जो स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरों की झूठी प्रशंसा कर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं. वे अपने को अधिक चतुर और प्रवीण समझते हैं तथा दूसरे को मूर्ख और बेवकूफ. ऐसे व्यक्तियों को सहयोग देकर आत्मा को पतनोन्मुख बनाना भीषण पाप है. समाज में आज इस प्रकार का एक वर्ग ही बन गया है. राजनीति में तो स्पष्ट ही उसका बोल-बाला है. धर्म भी इसका शिकार हो गया है. अपनी उच्चता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए भी इसका अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है. परपाखंडप्रशंसा और परपाखंडसंस्तव क्लीबों का हथियार है. अमोघ मानकर ही वे इसे सगर्व धारण करते हैं. परपाखण्ड प्रशंसा और और परपाखण्ड संस्तव मन को अधोमुख बनाते हैं. सम्यक्त्व-साधना-मार्ग के ये शूल हैं. इनका उच्छेद करके ही आत्मा सम्यक्त्व के साथ एकाकार हो सकती है.

देव, गुरु, तथा धर्म के प्रति जो श्रद्धा है, उसे भी सम्यक्त्व कहते हैं. जिन्होंने राग, द्वेष, मोहादि आत्मशत्रुओं को जीत लिया है, वे देव हैं. देव तत्त्व की कल्पना आदर्श के रूप में की जाती है. इस तत्त्व में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या संकुचित वृत्ति नहीं है. प्रत्येक आत्मा उत्क्रान्ति करता हुआ परमात्मा बनता है. इसीलिए जैन परम्परा में जिस आत्मा ने अपना पूर्ण विकास कर लिया है उसको देव माना है. ऐसे देव के प्रति आत्म-कल्याण के प्रत्येक अभिलाषी का मस्तक झुक जायगा.

गुरु हमारे सामने साधना का मार्ग उपस्थित करता है. साधु स्व-पर-कल्याण के साधक होते हैं. वे महाव्रतों, समितियों तथा गुप्तियों का पालन करते हैं. उन्हें देखकर हम अपनी साधना का व्यावहारिक रूप निश्चित कर सकते हैं. ऐसे साधु के चरणों में किसका मस्तक नत नहीं होगा ?

तीसरा तत्त्व धर्म है. वह अहिंसा संयम और तप रूप है. इस धर्म को स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती.

देव गुरु और धर्म की ऊपर जो व्याख्या की गई है वह सिद्धान्ततः सुन्दर और उदार होते हुए भी उसका उपयोग पंथ तथा सम्प्रदायवाद की पुष्टि में जब किया जाता है तब आत्मगुणों के स्थान पर मिथ्यात्व को ही प्रोत्साहन मिलता है. अन्तः-

---

१. समयं गोयम ! मा पमायए. —उत्तराध्ययन.

२. गीता

३. पाखण्डं व्रतमित्याहुः. —दशवैकालिकटीका.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि के स्थान पर बाह्य दृष्टि को ही प्रधानता मिलती है. उस समय आत्मा को न देखकर उसका कलेवर ही देखा जाता है.

सम्यक्त्व जीवन का चिरंतन सत्य है. यह सत्य जब जीवन में संपूर्ण अभिव्यक्ति पाता है, तब व्यवहार और आदर्श की खाई पटती जाती है. सम्यक्त्वी के आचार-विचार में एक विशिष्ट प्रकार की समानता होती है. मानव मानव है. उसमें कमजोरियां भी हैं. परन्तु सम्यक्त्वी का जीवन उन कमजोरियों पर विजय पाने के लिए सतत संघर्षशील रहता है. मानवीय दुर्बलताओं के कारण आदर्शों को न निभा पाना अलग बात है और संकल्पपूर्वक अपने व्यक्तित्व का आदर्श तथा व्यवहार में विभाजन करना अलग बात है. सम्यक्त्वी जीवन को इस प्रकार विभाजित नहीं करता. इसीलिए वह साधना की चरमस्थिति तक पहुँच कर शाश्वत सिद्धि प्राप्त कर सकता है.

आत्म-साधना करने वाले ऋषि, महर्षि आचार्य और धर्मगुरु सम्यक्त्व का यह पाठ चिरकाल से समाज को पढ़ा रहे हैं फिर भी समाज पर इसका कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं हो रहा है. धर्मगुरु इस साधना के द्वारा समाज को परिवर्तित करने का प्रयत्न करते रहे हैं और उधर समाज में शोषण, उत्पीडन, तृष्णा और वासनाओं का वही दौर चालू है. इसके कारण का यदि विश्लेषण किया जाय तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि इन सिद्धांतों को व्यवहार की भूमिका पर उतारने के स्वल्प प्रयत्न किये गये. जनसाधारण तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया. व्यक्ति और उसके हितों की उपेक्षा करके कोई भी आदर्श अथवा सिद्धांत व्यावहारिकता की परिधि में अपना स्थान नहीं बना सकता. उसकी सीमाओं में प्रवेश पाने के लिए व्यावहारिकता का परिवेश धारण करना ही होगा.

यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि देश, काल और वातावरण की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया है. प्रत्येक युग की अपनी मान्यताएँ होती हैं. उसकी उपेक्षा कर कोई भी सिद्धांत अपना क्षेत्र नहीं बना सकता. अतः युग के मार्ग को अस्वीकार करना उचित नहीं कहा जा सकता.

इस आलोक में यदि आज सम्यक्त्व की आराधना की जाय तो निश्चित ही विश्व समता की भूमिका प्राप्त कर सकेगा. सत्य अनन्त है. व्यक्ति सान्त है. परन्तु जब व्यक्ति, सीमाओं को, क्षुद्रताओं को पार करके ससीम से असीम बन जाता है, तब उसका सत्य भी अनन्त हो जाता है. अनंत में ही अनंत गुणों की अभिव्यक्ति होती है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org